

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें प्रोषधोपवास चर्चा

रत्नलाल कटारिया, केकड़ी राजस्थान

परीक्षाप्रधानी आचार्य समन्तभद्र का रत्नकरण्डश्रावकाचार नामक ग्रन्थ जैनाचार विषयक एक महत्वपूर्ण कृति है जिसे प्रायः आगमके समान कोटिका माना जाता है। इसकी विषयवस्तु 'चारित्तं खलु धम्मो' पर आधारित है। यह अनेक स्थानोंसे अनेक रूपमें प्रकाशित हुआ है, पर हम यहाँ वीर सेवा मन्दिर, दिल्लीसे प्रकाशित प्रतिके आधार पर ही उसमें वर्णित प्रोषधोपवास सम्बन्धी कुछ चर्चा करेंगे। इसका १०९ वाँ श्लोक, पृष्ठ १४६ निम्न प्रकार है :

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद् भुक्तिः ।

सः प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारंभमाचरति ॥ १०९ ॥

“चार प्रकार का आहार त्याग उपवास है, एक बार का भोजन प्रोषध है और उपवास करके आरम्भ का आचरण करना प्रोषधोपवास है।”

इस श्लोकार्थ के आधार पर टीकाकारने अपनी प्रस्तावनामें इस श्लोकके क्षेपक होने का सन्देह किया है। उनके मतानुसार ग्रन्थमें प्रोषधोपवास को कथन १०६ वें श्लोकमें किया है :

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।

चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्यारख्यानं सदिच्छाभिः ॥ १०६ ॥

इसमें बताया गया है कि पर्वणी (चतुर्दशी) तथा अष्टमी में सदिच्छासे जो चार आहार का त्याग किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास समझना चाहिये। टीकामें भी निम्न वाक्यके द्वारा इसे लक्षण ही सूचित किया है—अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणः प्राह—। इसके बाद चतुराहार विसर्जन श्लोकमें भी प्रोषधोपवास का लक्षण बतलाया गया है। इसकी उत्थानिकामें टीकाकारने लिखा है : अधुना प्रोषधोपवासस्तल्लक्षणं कुर्वन्नाह। परन्तु प्रोषधोपवासका लक्षण तो पहिले ही किया जा चुका है, फिरसे उसकी क्या जरूरत हुई, इसका कोई स्पष्टीकरण टीकामें नहीं है। इसके सिवा, धारणक और पारणकके दिनोंमें एक भुक्तिकी जो कल्पना टीकाकारने की है, वह उसकी अतिरिक्त कल्पना है। प्रोषध का अर्थ सकृद् भुक्ति और प्रोषधोपवासका अर्थ सकृद् भुक्ति पूर्वक उपवास-किसी अन्य ग्रन्थमें देखनेमें नहीं आया। यह अर्थ प्रोषध-

१. मुख्तार सा० ने जो सदिच्छाभिः पाठ माना है, वह ठीक नहीं है। सदेच्छाभिः पाठ देकर यह बताया है कि किसी मास विशेषकी अष्टमी-चतुर्दशीको ही उपवास करनेका नियम नहीं है, प्रत्युत जीवन पर्यतकी अष्टमी-चतुर्दशीको उपवास करनेका नियम है। इच्छाभिः का विशेष अर्थ है—कोरा चार आहारोंका त्याग ही उपवासमें पर्याप्त नहीं है, किन्तु आहारादिकी इच्छा, विषय कषायोंका त्याग प्रत्याख्यानके साथमें आवश्यक है। मुख्तार सा० ने सत् इच्छाका विधान किया है किन्तु ग्रन्थाकार सत् और असत्—सभी प्रकारकी इच्छाओंका यहाँ परित्याग करवा रहे हैं। अन्य ग्रन्थकारोंने भी इस प्रसंगमें सदा पाठ ही माना है। अतः यहाँ सदेच्छाभिः पाठ ही होना चाहिये।

प्रतिमाके श्लोक १४० के भी विरुद्ध है। अतः यह चतुराहार विसर्जन श्लोक आश्चर्य नहीं, जो ग्रन्थमें किसी तरह प्रक्षिप्त हो गया हो और टीकाकार को उसका ध्यान भी न रहा हो।

इस श्लोक पर और भी कुछ विद्वान इसी तरहके क्षेपक होने का आरोप करते हैं, किन्तु मेरे विचार में यह सब ठीक नहीं है। यह श्लोक मूल का ही अंग है और स्वामी समन्तभद्रकृत ही है। किसी भी प्राचीन अर्वाचीन प्रतिमें इस श्लोक का अभाव नहीं पाया जाता। अगर यह क्षेपक है, तो यह दूसरे किस ग्रन्थका मूल श्लोक है और कौन इसका कर्ता है, यह स्पष्ट होना चाहिये। अन्यथा किसी श्लोकको क्षेपक कह देना अतिसाहस है।

इस श्लोक की रचना शैली एक विशेषता को लिये है जो इसे समन्तभद्र की ही कृति सिद्ध करती है। इसमें जो लक्षण बांधने का ढंग है, वह रत्नकरण्डश्रावकाचारके सिवा अन्य किसी भी श्रावकाचारमें नहीं पाया जाता। इसकी अद्वितीयता निम्न है:—इसमें यद्के साथ 'आचरण' शब्द न देकर 'आचरति' क्रिया दी है और यद् की जोड़का सः शब्द देकर लक्षण बांधा है। यह शैली रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अन्यत्र भी पाई जाती है; यथा,

- (१) न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् ।
सा परदारनिवृत्तिः, स्वदारसन्तोषनामापि ॥ ५९ ॥
- (२) निहितं वा पतितं वा, सुविस्तृतं वा परस्वमविसृष्टं ।
न हरति यन्न च दत्ते तद्वृत्तशौचैरुपरमणम् ॥ ५७ ॥
- (३) स्थूलमलीकं न वदति न परान्वादयति सत्यमपि विपदे ।
यत्तद् वदन्ति सन्तः, स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥ ५५ ॥
- (४) संकल्पात्कृतकारितमननाद् योगत्रयस्य चरसत्वात् ।
न हिनस्ति यत् तदाहुः, स्थूलबधाद्विरमणं निपुणाः ॥ ५३ ॥
- (५) अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ ४२ ॥
- (६) स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य, बालाशक्तजनाश्रयाम् ।
वाच्यता यत्प्रमार्जन्ति, तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥ १५ ॥

इसतरह यह सुतरां सिद्ध है कि यह श्लोक क्रमांक १०९ रत्नकरण्डश्रावकाचार का ही अंग है और स्वामी समन्तभद्रकृत ही है। अब जो आपत्तियाँ की गई हैं, उनका भी निरसन निम्न प्रकार किया जा सकता है:

(१) टीकाकारने जो श्लोक १०६ की उत्थानिकामें 'प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं प्राह' लिखा है, वह ठीक है। उसका अर्थ यह है कि प्रोषधोपवास नामके शिक्षाव्रत का कथन करते हैं। शिक्षाव्रतके चार भेद हैं। उनमेंसे यहाँ प्रोषधोपवास नामके शिक्षाव्रत का कथन किया है। अतः नाम या भेद अर्थमें यहाँ लक्षण शब्द का प्रयोग किया गया है। यही शैली आगेके वैयावृत्त शिक्षाव्रत की उत्थानिकामें इस प्रकार दी है "इदानीं वैयावृत्यलक्षणशिक्षाव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह।" श्लोक १०९ की टीकामें चतुराहार पदकी व्याख्या इस प्रकार की है—चत्वारश्च ते अहाराश्चाशन-पान-स्वादयलेह्यलक्षणाः। इसमें भी लक्षण शब्द भेद अर्थमें ही दिया है।

श्लोक न० १०९ की उत्थानिकामें जो “प्रोषधोपवासस्तल्लक्षणं कुर्वन्नाह” लिखा है, उसका अर्थ है कि “प्रोषधोपवास” ऐसा जो पद है उसका लक्षण कहते हैं।” इस तरह दोनों उत्थानिका वाक्य अपनी जगह सही हैं। दोनोंका अर्थ जुदा जुदा है, अतः पुनरुक्तिका आरोप मिथ्या है।

(२) श्लोक न० १०६ में ‘पर्वण्यष्टम्यांच’ पदमें पर्वणी मूल शब्द बताया गया है, यह गलत है। मूल शब्द पर्वन् (नपुंसक लिंग) है उसका सप्तमी विभक्तिके एक वचनमें पर्वणि रूप बनता है जबकि पर्वणी शब्दमें ईकार बड़ा है और वह स्त्रीलिंग शब्द है तथा यह प्रथमा विभक्तिका द्वि वचन है। अगर वह यहाँ होता, तो ‘पर्वण्यामष्टम्यां च’ ऐसा पद बनता। इसमें छन्दोभंग ही होता। अतः यह ठीक नहीं है। टीकाकार ने भी मूल शब्द पर्वन् ही माना है और उसी का अर्थ चतुर्दशी किया है। उसी का सप्तमीके एक वचनमें पर्वणि रूप दिया है। (३) श्लोक न० १०९ में जो प्रोषधका अर्थ सकृद्भुक्ति दिया है, उसीके आधारसे टीकाकारने धारणक और पारणकके दिन एकाशन की बात कही है। उनकी यह कोई निजी कल्पना नहीं है। प्रोषधका अर्थ सकृद्भुक्ति अन्य ग्रन्थोंमें नहीं पाये जानेसे ही वह आपत्तिके योग्य नहीं हो सकता। समन्त-भद्रके ऐसे बहुतसे प्रयोग हैं जो अन्य ग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते। जैसे :

चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥ ७९ ॥

रत्नकरण्ड श्रावकाचारके इस श्लोकमें अवधि शब्द शास्त्र अर्थमें प्रयुक्त किया गया है, यह अनूठा है।

(आ) चौथा शिक्षाव्रत वैयावृत्य बताया है और उसीमें अर्हतपूजा को गर्भित किया है (श्लोक ११९)। यह निराला है।

(इ) श्लोक क्रमांक ९७ के आसमयमुक्तिमुक्तं पदमें आये समय शब्दकी जो व्याख्या श्लोक ९८, “मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्धं पर्यकबन्धनं चापि। स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः,” में की गई है, वैसी अन्यत्र नहीं पाई जाती।

(ई) श्लोक न० २४ में गुरुमूढताके लिये पाखण्डिमोहनम् शब्द का प्रयोग भी अद्वितीय है।

(उ) श्लोक नं० १४७ में मुनिवन, भैक्ष्याशन, चेल, खण्डधर आदि कथन भी अनुपम हैं।

(ऊ) स्वयंभूस्तोत्रमें चारित्रिके लिये उपेक्षा शब्दका प्रयोग श्लोक ९० में किया गया है।

(ऋ) आज सामायिक शब्दका ही प्रचार है, किन्तु इस अर्थमें रत्नकरण्डश्रावकाचारमें सर्वत्र सामयिक शब्दका ही प्रयोग किया गया है, कहीं भी सामायिक शब्दका नहीं। यह भी एक विशेषता है।

(४) श्लोक १०९ प्रोषधप्रतिमाके श्लोक १४० के विरुद्ध बताया जाता है, यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रोषधप्रतिमाके श्लोकमें जो प्रोषधनियम विधायी पद दिया है, उसके नियम शब्दके अन्तर्गत श्लोक १०६ से ११० तकका सारा प्रोषधोपवासका कथन आ जाता है। अतः यह श्लोक १०९ किसी तरह विरुद्ध नहीं पड़ता, अपितु उसका पूरक ठहरता है।

अब मैं श्लोक १०९ के अर्थ पर आता हूँ। आज तक इस श्लोकका पूरा वास्तविक अर्थ सामने न आ पानेसे यह श्लोक लोगोंको कुछ अटपटा सा लगता है। मैंने इस पूरे श्लोकका जो अर्थ निश्चित किया है, वह इस प्रकार है, विद्वान् इस पर गम्भीरतासे विचार करें :

इस श्लोकमें कोई भी पाठान्तर नहीं पाया गया है। सिर्फ कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीकामें शुभचन्द्राचार्यने इसके चतुराहारविसर्जन पदकी जगह चतुराहारविवर्जन पद दिया है, जो सामान्य शब्द भेदको लिये हुये हैं, किसी अर्थ भेदको लिये हुए नहीं।

लेखके प्रारम्भमें जो इस श्लोकका अर्थ दिया गया है, उसमें पूर्वाद्धिका अर्थ तो ठीक है, किन्तु उत्तराद्धिका अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि उत्तराद्धिके अर्थमें जो उपवास करके आरम्भका आचरण करना प्रोषधोपवास है, ऐसा बताया है, उसके अनुसार कोई ग्रन्थकार आरम्भ करनेका उपदेश नहीं दे सकता और न ऐसा प्रोषधोपवासका लक्षण कहा जा सकता है।

मेरे विचारमें 'सः प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचारति' इस उत्तराद्धिके उपोष्यारम्भ पदका अर्थ उपवास-सम्बन्धी आरम्भ-अनुष्ठान लेना चाहिये। योगसारप्राभृत (अमितगति प्रथम कृत) के श्लोक १९ अधिकार ८ में आरम्भ शब्दका अर्थ धर्मानुष्ठान दिया है। उपवाससे सम्बद्ध हो जाने पर आरम्भ अपने आप धर्मानुष्ठान हो जाता है। यहाँ उपवास विषयक आरम्भके आचरणको प्रोषधोपवासका लक्षण बताया है। ग्रन्थकारने इस श्लोकमें और इससे पूर्वके तीन श्लोकोंमें जो उपवासविषयक कर्तव्य बताये हैं, वे सब इस उपोष्यारम्भ पदमें आ जाते हैं। इस छोटेसे पदमें उपवास सम्बन्धी सारे क्रियानुष्ठान गर्भित कर लिये गये हैं, इसीसे इस लक्षणात्मक श्लोकको अन्तमें रखा है। उपोष्यारम्भ पदके द्वारा प्रकारान्तरसे ग्रन्थकारने यह भी सूचित किया है कि यहाँ अन्य सब गार्हस्थिक आरम्भ त्याज्य हैं। सिर्फ आहारका त्याग करना ही उपवास नहीं है, किन्तु लौकिक आरम्भोंका त्याग करना भी साथमें आवश्यक है। ऐसा अन्य ग्रन्थकारोंने भी इस प्रसंगमें लिखा है :

- (क) पुरुषार्थमिद्धचुपाय—मुक्तसमस्तारम्भं (श्लोक १५२)
- (ख) अमितगति श्रावकाचार-विहाय सर्वमारम्भमसंयमविवर्धकं (१२।१३०) सदोपवासं परकर्म-मुक्त्वा (७।७०), सदनारम्भनिवृत्तैराहारचतुष्टयं सदा हित्वा (६-८८)
- (ग) सकलकीर्तिकृत मुदर्शन चरित—त्यक्त्वारम्भगृहोद्भवं (२।७२)
- (घ) रइधूविरचित पासणाह चरिउ-संवह किज्जइ आरम्भकम्मि (५।७)
- (ङ) जयसेनकत धर्मरत्नाकर-आरम्भजलपानाम्यां मुक्तोज्जाहार उच्यते (१३०८)
- (च) रत्नकरण्डश्रावकाचारके श्लोक १०७ में भी उपवासमें आरम्भका त्याग बताया है।

उपोष (उप + उष्) शब्द उपवासका पर्यायवाची है, इसके आगे योग्य अर्थमें यत् प्रत्यय करने पर उपोष्य बना है। वही यहाँ उपोष्यारम्भ पदमें समझना चाहिये। "उपवास करके" इस अर्थका वाची शब्द यहाँ ग्रहण नहीं करना चाहिये।

चर्चित श्लोकके पूर्वाद्धिके जो प्रोषधका अर्थ ग्रन्थकारने सकृद् भुक्ति दिया है, उसका समर्थन इसी ग्रन्थके 'सामयिकं बहनीयाद् उपवासं चैक भुक्ते वा' से भी होता है। इसमें बताया है कि एक भुक्ति और उपवास अर्थात् प्रोषधोपवासके दिनोंमें सामायिकको दृढ़ करना चाहिये। श्लोकमें जो वा शब्द दिया है, उसका तात्पर्य यह है कि सामायिकको अन्य विशेष दिनोंमें भी दृढ़ किया जाना चाहिये। इस श्लोकमें जो उपवास और एक भुक्ति अलग-अलग पद दिये हैं, वे उपवास और प्रोषध अर्थात् प्रोषधोपवासके वाची हैं। इससे प्रोषधः सकृद् भुक्तिः इस पदका अच्छी तरह समर्थन होता है और यह श्लोक समन्तभद्रकृत ही है, यह भी सम्यक् सिद्ध होता है। जिन्होंने प्रोषधका अर्थ पर्व किया है, वे ग्रन्थकार प्रोषधोपवास शब्दसे आठ प्रहारका ही उपवास अभिव्यक्त कर सके हैं। १२ और १६ प्रहरके उपवासके लिये उन्हें अतिरिक्त श्लोकोंकी रचना करनी पड़ी है। इसके विपरीत, स्वामी समन्तभद्रने प्रोषधका सकृद्भुक्ति अर्थ करके इसके बल पर प्रोषधो-

पवास शब्द मात्रसे ही १२ और १६ प्रहरके उपवासका कथन अभिव्यक्त कर दिया है। यह उन जैसे प्रवचन-पटु अद्वितीय रचनाकारका ही काम है।

इस प्रसंग में संस्कृत टीकाकारने जो आरम्भका अर्थ सकृद्भुक्ति किया है, वह भी अनोखा है और शब्दशास्त्रादिक से किसी तरह संगत नहीं है।

पं० आशाधरजी ने सागारधर्माभूत के अध्याय ७ श्लोक ५ तथा उसके स्वोपज्ञभाष्यमें प्रोषधोपवास के चार भेद किये हैं-आहारत्याग, अंग संस्कारत्याग, सावद्यारंभत्याग, और ब्रह्मचर्य (आत्मलीनताका पालन)। इसी प्रकारका कथन श्रावक प्रज्ञप्ति और प्रशमरतिप्रकरणादिकी टीकामें श्वेताम्बराचार्योंने भी किया है। इस दृष्टि से जब मैंने रत्नकरण्डश्रावकाचारका अध्ययन किया, तो उसके प्रोषधोपवास विषयक श्लोक १०६ से १०८ में मुझे ये चारों भेद परिलक्षित हुये हैं। जिसका खुलासा इसप्रकार है:

पर्वण्यष्टम्यांच ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥ १०६ ॥

इस श्लोकमें आहारत्यागका कथन है।

पंचानां पापानामलं क्रियारंभगंधपुष्पाणाम् ।
स्नानांजन-नस्यानामुपवासे परिहृति कुर्यात् ॥ १०७ ॥

इस श्लोक में अंगसंस्कारत्याग तथा सावद्यारंभत्याग का कथन है।

धर्माभूतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्ध्यान् ।
ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालूः ॥ १०८ ॥

इस श्लोक में ब्रह्मचर्य (आत्मलीनता, ध्यान) का कथन है।

सम्भवतः इसीके आधार पर उत्तरवर्ती दिगम्बर तथा श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने उक्त चार भेदों की परिकल्पना की है। वस्तुतः इस १५० श्लोक परिणाम छोटे से ग्रन्थमें स्वामी समान्तभद्रने गागरमें सागर भर दिया है। इस ग्रन्थ को जितनी बार पढ़ो उतनी ही बार कुछ नया ज्ञातव्य पाठकको अवश्य मिलता है। इसकी यह विशेषता अन्य श्रावकाचारों में प्रायः नहीं पाई जाती।

इस ग्रन्थ के अन्य कुछ श्लोकों पर भी कतिपय विद्वान् क्षेपकत्वका सन्देह करते हैं। प्रसंगोपात्त यहाँ उनकी भी चर्चा उपयुक्त होगी :

मातंगो धनदेवश्री वारिषेणस्ततः परः ।
नीलो जयश्च सम्प्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥६४॥
धनर्थं सत्यघोषौ च तापसारशकावपि ।
उपाख्येयास्तथाश्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥६५॥
मद्यमांसमधुत्यामैः सहाणुव्रतपंचकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥७६॥

इन श्लोकों पर छन्दभिन्नत्वके कारण क्षेपकत्वका आरोप किया जाता है। यह ठीक नहीं है। छन्द-भिन्नत्व तो प्रथम परिच्छेद और अन्तिम परिच्छेदके अन्तिम श्लोकोंमें भी पाया जाता है, अतः यह हेतु अकार्यकारी है। कवि लोग कभी-कभी परिच्छेदके अन्त में छन्द भिन्नता कर देते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँ-जहाँ छन्द भिन्नत्व हो, वहाँ प्रायः परिच्छेदकी समाप्ति समझना चाहिये। यही बात यहाँ के

तीन श्लोकोंके लिये हैं। पहिले श्लोकमें अहिंसादि पाँच व्रतोंमें प्रसिद्ध होनेवाले पुरुषोंके क्रमशः नाम दिये हैं। उसी विषयमें दूसरे श्लोकमें बदनाम होनेवालोंके नाम दिये हैं। बदनामीका वाचक दूसरे श्लोकमें कोई शब्द न होनेसे और बिना उसके संगति न बैठनेसे समीचीन धर्मशास्त्रकी प्रस्तावना पृष्ठ ७१ पर यथाक्रमं पाठकी जगह अन्यथासमं पाठकी परिकल्पना की गई है किन्तु यह ठीक नहीं है। मेरे विचारमें यहाँ उपाख्येया की जगह अपाख्येया पाठ होना चाहिये जो बदनामीका वाचक है। इस सामान्य शब्द परिवर्तनके द्वारा ही इष्टार्थकी प्राप्ति होती है। प्रतिलिपिकारोंके प्रमादसे अप का उप हो जाना बहुत कुछ सम्भव है। इससे यथाक्रमम् पाठका लोप भी नहीं करना पड़ेगा।

अब रहा मूल गुणोंका वाची तीसरा श्लोक, वह तो बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि उसके आगेके श्लोकमें जो यह बताया है कि “अनुवृहणात् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥६७॥ इसलिये अगर गुणोंका ही वर्णन करनेवाला श्लोक नहीं होगा, तो गुणोंकी वृद्धि और गुणव्रतका कथन ही कदापि सम्भव नहीं होगा। जिस तरह बिना पिताके पुत्र नहीं होता, उसी तरह बिना गुणोंके गुणव्रत सम्भव नहीं। अतः यह श्लोक ग्रन्थका नितान्त आवश्यक अंग है। किसी तरह भी क्षेपक नहीं है।

